हमारे हेडमास्टर साहब

मणीश ठाकुर

भारत की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में जाति और पितृसत्ता की जड़ीभूत सांस्थानिकता के भीतर से आधुनिक संस्थाओं और नई पेशेवर पहचानों का ताना-बाना कैसे उभर कर आया यह शिक्षा के समाजशास्त्र और शिक्षा के इतिहास की बड़ी गुत्थी है। यह संस्मरणात्मक लेख इस परिघटना की पड़ताल करता है। लेखक, जो एक सक्रिय समाजशास्त्री हैं, ने अपने स्कूल के प्रधानाध्यापक की स्मृतियों को दर्ज़ करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं।

आज से चालीस-पचास साल पहले गाँव में बहुत कम लोग दुग्ध धवल कपड़ों में दिखाई देते थे। ज़्यादातर लोग दैनन्दिन जीवन में धोती, लुँगी तथा गंजी से काम चला लेते थे। सर्दी के मौसम में मोटी चादर ओढ़कर जैसे-तैसे रह लेते थे। जहाँ तक मुझे याद है अपने बचपन में मैंने दो ही लोगों को हमेशा पूर्ण परिधान में देखा। एक थे प्रोफ़ेसर साहब जो हमेशा जूते-मोज़े के साथ धोती, कुर्ता और बण्डी पहनकर शाम को टहलने निकला करते थे तथा दूसरे थे हमारे हेडमास्टर साहब जिन्हें मैंने हमेशा धोती और खादी के सफ़ेद कुर्ते में ही देखा।

शिक्षा और औपचारिक परिधान में कोई रिश्ता होता है यह मुझे नहीं पता, परन्तु मेरे गाँव के हेडमास्टर साहब की वेशभूषा विशिष्ट थी। वह यह बताती थी कि वह गाँव के सैकड़ों बुज़ुर्गों से अलग हैं। वह गाँव में हैं, लेकिन गाँव के नहीं हैं। शायद यह उनकी अथॉरिटी का आदि स्रोत था। आज जबकि विद्यालय और समाज के रिश्तों पर अकादमिक बहस चल रही है, मुझे लगता है कि शिक्षक की यह अवस्थिति (लोकेशन)– समुदाय से सम्बद्ध होकर भी समुदाय का न होना– विचारणीय है। शिक्षक और समुदाय के बीच का विशिष्ट सम्बन्ध मुझे रचनात्मक और सम्भावनाशील लगता है।

मेरा गाँव ‘ऊँची’ जाति के भूमिहारों के प्रभुत्व वाला गाँव है। बाद में पता चला कि हमारे हेडमास्टर साहब भी उसी जाति के थे। यहाँ तक कि गाँव के एक सम्पन्न परिवार से उनकी रिश्तेदारी भी थी। पाँच-छह साल तक मैं उनके विद्यालय का छात्र रहा परन्तु कभी भी मुझे उनकी जाति या नातेदारी सम्बन्धों का भान नहीं हुआ। यह बात अब मुझे सारगर्भित लगती है। समाजशास्त्र का छात्र होने के नाते मैंने हमेशा पढ़ा कि जाति और गाँव आपस में गडमड हैं। अगर ऐसा है तो फिर क्या कारण है कि हमारे हेडमास्टर साहब अपने रोज़मर्रे के व्यवहार में अपनी ख़ास जाति की जगह अपनी पेशेवर पहचान को तरजीह दिया करते थे? लोग उन्हें मूलत: उनके प्रोफ़ेशन की वजह से जानते थे उनकी रिश्तेदारी की वजह से नहीं और वह शायद ऐसा ही चाहते थे।

क्या मामला व्यक्तिगत विशेषताओं का है? क्या मामला उस दौर का है जब यह लगता था कि राष्ट्र-निर्माण जाति-समुदाय से ऊपर उठने के अनन्त, अनथक प्रयासों का दूसरा नाम है? क्या यह राष्ट्रीय आन्दोलनों के दरमियान प्रस्फुटित गाँधीवादी आदर्शों का प्रभाव है? ऐसा

भी तो हो सकता है कि आज़ादी के दो-तीन दशकों तक कुछेक जाति समुदाय के पास वह पूँजी थी जिसके बल पर वह जातिगत दलदल से ऊपर उठ पाते थे या ऊपर उठ पाने का स्वाँग रच पाते थे जिसको परवर्ती राजनीति ने मुश्किल कर दिया। वैसे ही जैसे परवर्ती जनतांत्रीकरण ने गाँधी और गाँधी के आदर्शों को कठघरे में खड़ा कर दिया।

बहरहाल, हेडमास्टर साहब गाँधीवादी माने जाते थे। खादी पहनते थे। साफ़-सुथरा रहते थे। विद्यालय भवन के एक कमरे में रहते थे। बगल के टोले की एक वृद्ध महिला उनका खाना बना दिया करती थी। वह विद्यालय खुलने के पहले और बाद में पड़ोस के टोले के बच्चों को पढ़ाया करते थे। ध्यातव्य है कि ये बच्चे 'छोटी' जातियों के थे और अनियमित छात्र थे।

मैंने यह भी सुना था कि हेडमास्टर साहब ने मेरे स्कूल के मौलवी साहब को एक दिन घर वापस भेज दिया था। कारण यह था कि वह बग़ैर कुर्ते के सिर्फ़ गोल गंजी में स्कूल आ गए थे।

न जानने की ज़रूरत थी और न आज मुझे पता है कि हेडमास्टर साहब की ख़ुद की शिक्षा किस स्तर तक थी। शायद बीए होंगे। शायद उन्होंने शिक्षक-प्रशिक्षण का कोई डिप्लोमा भी प्राप्त किया हो।

ग्रामीण समाज में उनकी प्रतिष्ठा की एक वजह और भी थी। हमने गाँव में चर्चा सुनी थी कि एक बार उनका चयन स्कूल इंस्पेक्टर के रूप में हुआ था, लेकिन तब उन्होंने हेडमास्टर बने रहना ही पसन्द किया। बेसिक स्कूल के हेडमास्टर और स्कूल इंस्पेक्टर का ऑफ़िशियल रैंक एक ही होता था। फिर भी इंस्पेक्टर का रुतबा ज़्यादा होता था। उसके पास पैसे भी ज़्यादा होते थे क्योंकि उसके पास 'ऊपरी आमदनी' का जरिया होता था। जाहिर है कि मेरे गाँव के लोग इस बात से प्रभावित थे कि हेडमास्टर साहब ने एक रुतबे वाले पद को ठुकरा दिया था तथा शिक्षक बने रहना स्वीकार किया था। नौकरशाही और शिक्षा का यह द्वन्द्व मेरे गाँव में कैसे पहुँचा और अध्यापकीय कर्म की श्रेष्ठता के भाव ने लोगों के चेतन में कैसे अपनी पैठ बनाई यह मुझे नहीं पता। बहुत बाद में मैंने सुना कि प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम एन श्रीनिवास ने शिक्षा मन्त्रालय में सचिव के पद को ठुकरा दिया था।

मैं हेडमास्टर साहब का कोई शब्दचित्र नहीं उकेरना चाहता। मेरी मंशा यह साबित करने की भी नहीं है कि वह एक अतिविशिष्ट व दुर्लभ व्यक्ति थे। मैं हेडमास्टर साहब के बहाने स्कूल के हेडमास्टर के कुछ संस्थागत पहलुओं को समझने की कोशिश कर रहा हूँ।

हेडमास्टर साहब जनेऊ पहनते थे। बाद में पता चला कि उनकी चार बेटियाँ थीं जिनका विवाह उन्होंने तिलक-दहेज़ देकर अपनी ही जाति में किया। एक पुत्र भी था जिसका जन्म चार बेटियों के पश्चात हुआ था। बहुत बाद में मुझे एक बार उनके पैतृक गाँव जाने का मौक़ा मिला। जब मैं उनके घर गया तो वह मुझे अपनी जाति के अन्य सद्‌गृहस्थ की तरह ही दिखे— ज़मीन-ज़ायदाद, माल-जाल, कुर्सी-चौकी, जनेऊ-गोसाईं सब कुछ था जो आम सद्‌गृहस्थ के पास होता है। हेडमास्टर साहब मृदुभाषी थे। मुझसे मिलकर ख़ुश हुए। घर ले जाकर अच्छा खाना खिलाया और फिर बोले, "पुत्र और शिष्य दोनों समान रूप से स्नेह के भागीदार होते हैं फ़र्क़ बस इतना है कि पुत्र सम्पत्ति का भी उत्तराधिकारी होता है जबकि

मेरे गाँव के लोग इस बात से प्रभावित थे कि हेडमास्टर साहब ने एक रुतबे वाले पद को ठुकरा दिया था तथा शिक्षक बने रहना स्वीकार किया था। नौकरशाही और शिक्षा का यह द्वन्द्व मेरे गाँव में कैसे पहुँचा और अध्यापकीय कर्म की श्रेष्ठता के भाव ने लोगों के चेतन में कैसे अपनी पैठ बनाई, यह मुझे नहीं पता।

शिष्य सिर्फ़ स्नेह का।" सुनकर मुझे अच्छा लगा। यह बात उन्होंने रिटायर होने के दशकों बाद की थी। मर्मस्पर्शी बात थी।

लेकिन अपनी जाति के किसी अन्य सद्‌गृहस्थ के समान होने के बावजूद वह एक अच्छे हेडमास्टर थे। विद्यालय सुचारु रूप से चलाते थे। शिक्षकगण विद्यालय में नियमित रूप से उपस्थित रहते थे और कक्षाएँ समय पर लगती थीं। स्कूल बेवजह बन्द नहीं हुआ करता था। आमतौर पर छात्र शिष्ट थे और शिक्षक अध्यवसायी व स्नेहिल।

ज़्यादातर शिक्षक एक ही जाति के थे और ज़्यादातर छात्र भी। हाँ, जाति के भीतर परिवार की आर्थिक स्थिति का अन्तर था। कुछ छात्र ज़्यादा ज़मीन वाले परिवारों से आते थे तो कुछ कम ज़मीन वाले परिवारों से। कुछ विद्यार्थियों के परिवार वाले छोटी-मोटी सरकारी नौकरियों में थे जबकि ज़्यादातर विद्यार्थी खालिस किसान परिवारों से आते थे। अन्य जातियों के छात्र भी थे, परन्तु वे कम संख्या में थे। पीछे मुड़कर देखने से लगता है कि हिन्दुस्तान की अन्य कई संस्थाओं की तरह तब मेरा स्कूल भी सीमित अर्थ में ही समावेशी था। ऊँची जातियों का वर्चस्व प्रकट रूप से था जो तब 'स्वाभाविक'-सा लगता था उनके आर्थिक संसाधनों और सामाजिक-सांस्कृतिक पूँजी के सन्दर्भ में। बहुसंख्यक ठाकुर उपनाम वाले विद्यार्थियों के बीच कुछ पासवान, मण्डल, साहू, मोची, बैठा, कामत आदि उपनाम वाले विद्यार्थी भी मिल जाया करते थे।

> शिक्षकों की बात हो या छात्रों की, हेडमास्टर साहब हमेशा समन्वयक की भूमिका में ही दिखे। सबको साथ लेकर चलने वाले— न्यूट्रल और निष्पक्ष। छोटी-मोटी शरारतों के अलावा मैंने विद्यालय में कोई बड़ा झगड़ा नहीं देखा। शिक्षकों की कोई आपसी गुटबन्दी हो इसका भी मुझे आभास नहीं था।

स्कूल के शिक्षकों का भी ऐसा ही सामाजिक चरित्र था। एक मौलवी साहब का ज़िक्र ऊपर आया है, उनके अलावा एक साहूजी थे। शिक्षकों की बात हो या छात्रों की, हेडमास्टर साहब हमेशा समन्वयक की भूमिका में ही दिखे। सबको साथ लेकर चलने वाले— न्यूट्रल और निष्पक्ष। छोटी-मोटी शरारतों के अलावा मैंने विद्यालय में कोई बड़ा झगड़ा नहीं देखा। शिक्षकों की कोई आपसी गुटबन्दी हो इसका भी मुझे आभास नहीं था। तो क्या हमारे हेडमास्टर साहब ने मैक्स वेबर को आत्मसात कर लिया था और एक आधुनिक ब्यूरोक्रैटिक इंस्टीट्यूशन के रूप में व्यक्तिनिरपेक्ष पद्धतियों और प्रक्रियाओं का पालन करते हुए वह बख़ूबी स्कूल चला रहे थे? या कि मेरा स्कूल उस वक़्त की सामाजिक शक्तियों के आपसी सन्तुलन का प्रतिबिम्ब था इसलिए ऊपर से सब कुछ सहज, समांगी और समावेशी प्रतीत होता था?

मेरे ज़ेहन में एक सवाल उठता है। यदि हमारे हेडमास्टर साहब सिर्फ़ अपने-आप को एक सरकारी विद्यालय के कार्यालयी प्रधान के रूप में देखते थे तो वह हर मानसून के पहले गाँव में घूमकर कुछ सम्भ्रान्त परिवारों से विद्यालय की मरम्मत के लिए बाँस आदि क्यों माँगा करते थे। यहाँ तक कि उनके कहने पर स्कूल के पास के टोले के मज़दूर भी बिना पैसे लिए साल में एक बार स्कूल की खपरैल छत की आवश्यकतानुसार मरम्मत कर देते थे। खपरैल छत बनाने वाले तब कुछ ही कुशल मज़दूर गाँव में हुआ करते थे। उनकी विशेष पूछ-परख होती थी क्योंकि ज़्यादातर घर खपरैल के थे इसलिए मानसून के पहले वह मज़दूर हमेशा व्यस्त रहते थे। उन व्यस्त दिनों में समय निकालकर बिना मज़दूरी लिए वे स्कूल की छत को दुरुस्त कर देते थे ताकि पढ़ने वाले बच्चों के सिर पर पानी नहीं टपके। ऐसा लगता है कि कहीं-न-कहीं हमारे हेडमास्टर साहब अपने विद्यालय को 'कॉमन

(pull quote above)

पब्लिक गुड' के रूप में समुदाय के सामने पेश कर पाते थे, तभी तो जिनके पास सम्पत्ति थी वे स्कूल को बाँस दे देते थे और मज़दूर अपना श्रमदान कर देते थे। किसी ने उनसे कभी नहीं कहा कि आपका तो सरकारी स्कूल है विभाग से मरम्मत के लिए पैसे मंजूर करवा लीजिए और हमें तंग मत कीजिए।

इसी तरह से अन्य स्कूल के अन्य हेडमास्टर भी ऐसा ही करते होंगे। उनकी कर्तव्यनिष्ठा और समर्पण भी हमारे हेडमास्टर साहब से कम नहीं होती होगी। तो फिर क्या यह शीर्षक 'हमारे हेडमास्टर साहब' भ्रामक नहीं है? अभी तक तो मैंने पाठकों को यह भी नहीं बताया कि उनका नाम राम कृपाल राय था और मेरे स्कूल का नाम था राजकीय वरीय बुनियादी विद्यालय, बैंगरा। मैं 1976-81 के कालखण्ड की बात कर रहा हूँ। स्कूल के नाम में 'राजकीय' या 'शासकीय' लगे होने का अर्थ स्कूल का सरकारी होना है। जब मैं उस विद्यालय का विद्यार्थी था तो वहाँ छठी तक ही पढ़ाई होती थी, लेकिन इस स्कूल को आठवीं कक्षा तक पढ़ाने की अनुमति सरकार से मिली हुई थी इसलिए उसके नाम में 'वरीय' लगा था। कुछ बातें 'बुनियादी' के बारे में। मैंने सुन रखा था कि हमारे ज़िले में मात्र तीन बुनियादी विद्यालय थे। महात्मा गाँधी और ज़ाकिर हुसैन की नई तालीम योजना के अन्तर्गत जब विभिन्न राज्यों में बुनियादी विद्यालय शुरू किए गए तब मेरे गाँव में भी एक स्कूल खुला। हालाँकि, जब मैं इस विद्यालय का विद्यार्थी था तो पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, आकलन आदि के मामले में यह किसी भी अन्य मध्य विद्यालय की तरह ही था। सिर्फ़ विभागीय दृष्टि से इस विद्यालय के शिक्षकों का तबादला अन्य मध्य विद्यालयों में नहीं हो सकता था क्योंकि बुनियादी विद्यालयों के शिक्षकों का कैडर अलग होता था।

यह बुनियादी विद्यालय मेरे ही गाँव में क्यों खुला, इस बारे में मैं सिर्फ़ अनुमान लगा सकता हूँ। मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। दोनों सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में जेल गए थे। अँग्रेज़ पुलिस मेरे गाँव आई थी। पुराने लोग बताते थे कि पुलिस के आने के पहले ही गाँव के तमाम नौजवान भागकर अपने रिश्तेदारों के यहाँ चले गए थे। मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों में से एक समाजवादी विचारधारा के थे। एक बार उन्होंने ज़मींदारी पृष्ठभूमि के एक काँग्रेसी उम्मीदवार के ख़िलाफ़ चुनाव भी लड़ा था जिसमें वह सफल नहीं रहे। बाद में वह ज़िला परिषद के अध्यक्ष बने। इस तरह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मेरे गाँव तक पहुँचा और राष्ट्रीयता को समर्पित गाँव के रूप में मेरे गाँव की पहचान बनी। शायद इसी पृष्ठभूमि के कारण मेरे गाँव में बुनियादी विद्यालय स्थापित हुआ होगा। बुनियादी विद्यालय के सामने ही बाद में एक उच्च विद्यालय भी स्थापित हुआ जिसका नाम सर्वोदय विद्यालय रखा गया। हालाँकि, उस विद्यालय का सर्वोदय से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। विद्यालय के लिए ज़मीन एक महन्तजी ने दान में दी थी। वैसे इस स्कूल का सीधा सम्बन्ध भले ही भूदान आन्दोलन से नहीं हो, लेकिन आजादी के बाद भूदान आन्दोलन की धमक मेरे गाँव में भी पहुँची थी| कालान्तर में मेरे गाँव में दो भूदानी कार्यकर्ता हुए। भूदान आन्दोलन ने जमीन की निजी मिल्कियत की प्रचलित धारणा को भूदान आन्दोलन ने अपने इस उदबोधन से किसी हद तक चुनौती दी— 'सबै भूमि गोपाल की, नहीं किसी की मालिकी।' संसाधनों का निवेश सबके

मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। दोनों सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में जेल गए थे। अँग्रेज़ पुलिस मेरे गाँव आई थी। पुराने लोग बताते थे कि पुलिस के आने के पहले ही गाँव के तमाम नौजवान भागकर अपने रिश्तेदारों के यहाँ चले गए थे। मेरे गाँव के दो स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों में से एक समाजवादी विचारधारा के थे।

हित में हो इस बात को भूदान आन्दोलन ने पुनः रेखांकित किया। भूदान आन्दोलन की ठोस सफलता-असफलता पर बहस की गुंजाइश है, लेकिन इन आन्दोलनों के जरिए 'कॉमन पब्लिक गुड' की धारणा ने लोक मानस में अपनी पैठ बनाई।

कुल मिलाकर स्वाधीनता आन्दोलन की धमक मेरे गाँव में बनी रही। उस कड़ी में ऊपर समाजवादी विचारधारा के जिन स्वतंत्रता सेनानी का जिक्र आया है से लेकर भूदानी कार्यकर्ता और हमारे स्कूल के हेडमास्टर साहब आदि जुड़ते चले गए। इसी सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता ने बुनियादी विद्यालय और सर्वोदय हाई स्कूल की स्थापना के लिए अनुकूल परिवेश निर्मित किया|

स्कूल के बाहर मौजूद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन जब स्कूल के भीतर प्रवेश करता था तो आन्दोलन के वैचारिक अन्तर्विरोध शिथिल हो जाते थे। स्कूल के भीतर का राष्ट्रवाद वैचारिक से अधिक भावनात्मक, अनुष्ठानिक और अपेक्षाकृत स्थिर था। 15 अगस्त और 26 जनवरी को बच्चे प्रभातफेरियाँ करते थे। 'गाँधीजी की जय' और 'नेताजी सुभाषचन्द्र बोस अमर रहें' के नारे लगाते थे। झण्डोतोलन होता था और बच्चों को चीनी का बताशा मिलता था। चरित्र-निर्माण हेतु महापुरुषों की सूक्तियाँ स्कूल की दीवारों पर मोटे लाल अक्षरों में लिखी हुई थीं। कुछ सामान्य से भित्ति चित्र और राष्ट्रीय नेताओं के फ्रेम में मढ़े हुए कुछ चित्र भी थे– गाँधी, नेहरू, सुभाष और घनी मूँछों के नीचे मन्द-मन्द मुस्कराते डॉ राजेन्द्र प्रसाद। मैंने अर्न्स्ट गेलनॉर की किताब को तब नहीं पढ़ा था। तब शायद वह किताब आई भी नहीं थी। किन्तु अब पीछे मुड़कर देखने से लगता है कि निःसन्देह स्कूल के उस छोटे-से परिसर की दैनन्दिन गतिविधियों में एक राष्ट्र बन रहा था। उस खपरैल भवन की चूने से पुती हुई सफ़ेद दीवारों पर छवियों और चित्रों के माध्यम से समाज का सहज बोध एक राष्ट्रवादी इतिहास बोध में रोज़-ब-रोज़ ढल रहा था। चूँकि मेरा स्कूल बिहार के मधुबनी ज़िले के एक गाँव में था, अत: डॉ राजेन्द्र प्रसाद वहाँ की राष्ट्रीय स्वर लिपि में अधिक मुखरित थे। मैंने हेडमास्टर साहब के हाथ में कई महीनों तक डॉ राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा देखी थी। राजेन्द्र बाबू बिहार से थे। वह एक सम्भ्रान्त कायस्थ परिवार से आते थे व शालीनता और सादगी की प्रतिमूर्ति माने जाते थे। वह गाँधीजी के अनुयायी थे, मेधावी थे और एंट्रेन्स एग्ज़ामिनेशन में पूरे बंगाल में उन्हें प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। अमूमन राजेन्द्र बाबू में वह सब कुछ था जो उस गाँव के स्कूल के बच्चों के लिए अनुकरणीय था। हमें उस वक़्त कहाँ पता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर भी कई विचारधाराएँ थीं, कि राजेन्द्र बाबू का श्रीकृष्ण सिंह और जयप्रकाश नारायण से कई मुद्दों पर वैचारिक मतभेद था, कि हिन्दू कोड बिल पर उनका आग्रह एक ख़ास सामाजिक सत्ता को प्रश्रय देता था, कि सोमनाथ मन्दिर के उनके उद्घाटन भाषण में उस समय प्रचलित राष्ट्र-निर्माण की विचारधारा की एक दूरगामी आलोचना थी, आदि |

स्कूल के बाहर मौजूद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन जब स्कूल के भीतर प्रवेश करता था तो आन्दोलन के वैचारिक अन्तर्विरोध शिथिल हो जाते थे। स्कूल के भीतर का राष्ट्रवाद वैचारिक से अधिक भावनात्मक, अनुष्ठानिक और अपेक्षाकृत स्थिर था। 15 अगस्त और 26 जनवरी को बच्चे प्रभातफेरियाँ करते थे।

संगीत की कक्षाओं में ज़्यादा देशभक्ति के गीत गाए जाते थे– 'इंसाफ़ की डगर पर बच्चो दिखाओ चलके', 'साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल'। मोटेतौर पर इन गीतों में गाँधी, सुभाष, नेहरू, भगत सिंह, आज़ाद एक ही धरातल पर बैठे दिखलाई पड़ते थे और देश की आज़ादी बिना किसी खड्ग-ढाल की

मिली अमूल्य धरोहर। प्रार्थना हर सुबह स्कूल में हुआ करती थी जिसमें ईश्वर वन्दना, परमेश्वर से आशीष प्राप्ति की गुहार थी ताकि विद्यार्थी सद्‌चरित्र गुणवान व्यक्ति बन सकें।

मैं शिक्षाशास्त्र का अध्येता नहीं हूँ। स्कूल जैसी संस्था के सुचारु संचालन में व्यक्ति विशेष की महती भूमिका होती है या नीतियाँ और प्रक्रियाएँ निर्णायक होती हैं या समुदाय की भागीदारी या उसकी निगरानी काफ़ी मायने रखती है और इन कारकों का आदर्श सन्तुलन क्या हो यह वाद-विवाद का विषय रहा है। लेकिन आज़ाद भारत में जनमानस की चेतना भित्ति में बहुधा एक अच्छे स्कूल को एक अच्छे हेडमास्टर से जोड़ कर देखा गया है। एक ख़ास सैद्धान्तिक नज़रिए से देखा जाए तो एक स्वस्थ और मज़बूत संस्था को व्यक्तिनिरपेक्ष होना चाहिए। उसे अपनी सुनिश्चित प्रक्रियाओं के बलबूते अपने कर्तव्य का निर्वहन करना चाहिए। इसे ही शायद सांस्थानिक टिकाऊपन कहते हैं। अगर ऐसा है तो हमें हेडमास्टर साहब के बारे में अलग से कुछ लिखने की ज़रूरत नहीं है। जो बातें स्कूल के बारे में कही जाएँ वही बातें उनके लिए भी उपयुक्त होंगी।

> हेडमास्टर साहब का निजी जीवन उनके समुदाय व वर्ग की वैचारिक सीमाओं से ही परिभाषित होता था। आज के सुधीजन उनके कई व्यवहारगत आचरणों को प्रश्रय देने, कृपा करने और सताए हुए समूहों की अधिकार चेतना को अवरुद्ध करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों के रूप में देखेंगे।

प्रश्न संस्थाओं की स्वायत्तता का भी है। कोई संस्था किस हद तक अपने सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भों का अतिक्रमण कर सकती है? कहाँ तक उन सन्दर्भों से ऊपर उठ सकती है? दूसरी बात कि स्कूल को समाज का एक मानक प्रतिबिम्ब मानना भी एक समाजशास्त्रीय अतिरेक होगा। यद्यपि स्कूल आधुनिक समाज में विषमताओं के प्रजनन की दृष्टि से एक विशिष्ट संस्था है, लेकिन वह प्रतिरोधी विचारों की संवाहक भी रही है। तो स्कूल के इस दोधारी संस्थागत ढाँचे को कैसे समझा जाए! उसे यथास्थिति का महज पोषक मान लिया जाए जैसा कि कई प्रजननवादी (रीप्रोडक्शनिस्ट) समाजशास्त्री और आधुनिक समाज को स्कूलिंग से छुटकारा दिलाने वाले कुछ विचारक मानते हैं या उसे वैकल्पिक विचारों और कल्पनाओं के लिए उर्वर एक संस्था के रूप में देखा जाए!

इन सवालों के बरअक्स हमारे हेडमास्टर साहब कैसे दिखते हैं? जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है वह परिवर्तनकामी शलाका पुरुष तो नहीं थे। उनका निजी जीवन उनके समुदाय व वर्ग की वैचारिक सीमाओं से ही परिभाषित होता था। आज के सुधीजन उनके कई व्यवहारगत आचरणों को प्रश्रय देने, कृपा करने और सताए हुए समूहों की अधिकार चेतना को अवरुद्ध करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों के रूप में देखेंगे। मसलन 'छोटी' जाति के बच्चों को अनौपचारिक और अवैतनिक ट्यूशन देना, राजेन्द्र बाबू का महिमामण्डन, वेशभूषा की औपचारिकता पर ज़ोर आदि-आदि। लेकिन उनके द्वारा स्कूल का सफल संचालन सीमित ही सही, कमज़ोर वर्ग के अनेक बच्चों के सशक्तिकरण में सहायक भी था। स्कूल की चार-छह घण्टे की सीमित अवधि में ही सही, उनका अवदान यह था कि कोई बच्चा प्रकट तौर पर जातिगत भेदभाव का शिकार नहीं हुआ। किसी भी बच्चे को किसी शिक्षक ने कम-से-कम प्रकट तौर पर तो इस बात के लिए प्रताड़ित नहीं किया कि वह छोटी जाति का है। उन्हें स्कूल से भगाया नहीं गया या उन्हें स्कूल आने के लिए हतोत्साहित नहीं किया गया। जिन लोगों ने ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन पढ़ी है उनको पता है कि कैसे 'ऊँची'

जाति के शिक्षक 'नीची' जाति के मेधावी छात्रों को हास-परिहास का पात्र बनाते हैं।

हेडमास्टर साहब पितृसत्तात्मक मूल्यों की जकड़बन्दी से मुक्त नहीं रहे होंगे। शायद इसी वजह से पुत्र जन्म के इन्तज़ार में उन्होंने चार बेटियाँ पैदा की होंगी। फिर जातीय परम्पराओं के मद्देनज़र उन सबका ब्याह भी करवाया। परन्तु हमारे को-एजुकेशनल स्कूल में मैंने उनको हमेशा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करते हुए ही पाया। मेरी छोटी बहन उसी स्कूल में मुझसे दो कक्षा पीछे पढ़ती थी। हेडमास्टर साहब उसको लेकर भी उतने ही स्नेहिल थे जितने मेरे प्रति। अन्य छात्राओं के प्रति भी उनका व्यवहार मुझे समदर्शी व समावेशी ही लगा।

एक बात और याद आ रही है। हमारा स्कूल गाँव की सामान्य चौहद्दी से थोड़ा बाहर था। परम्परावश शादी-ब्याह, उपनयन के भोज के मौक़े पर हेडमास्टर साहब को निमन्त्रण जाता था। मुझे याद नहीं कि वह उन आयोजनों में शरीक होते भी थे या नहीं। दूसरी ध्यान देने वाली बात यह थी कि लोग अपने खेत में उपजने वाली सब्जी और फल की पहली खेप गाँव के मन्दिर के पुजारी को भेजते थे। गाय-भैंस का दूध भी मन्दिर में जाता था। इसी सिलसिले में मैंने यह भी देखा कि कुछ परिवार नियमित रूप से दूध, फल, सब्जी आदि हेडमास्टर साहब को भी भेजा करते थे– आदर और श्रद्धावश। मन्दिर सेक्रेड स्पेस (पवित्र स्थान) था और स्कूल सेक्युलर (धर्म निरपेक्ष), परन्तु श्रद्धा का प्रतिदान दोनों जगहों पर था। मैं यह नहीं कह रहा कि मन्दिर और स्कूल के लिए जनमानस में एक समान ही श्रद्धा थी, परन्तु आंशिक साम्य भी मुझे आकर्षित करता है|

कुल मिलाकर हमारे हेडमास्टर साहब काफ़ी कुछ वैसे ही थे जैसा उनका समय था, लेकिन समय के भीतर मौजूद तमाम सम्भावनाओं को अपने सीमित संस्थागत दायरे में साकार करने को लेकर वह प्रतिबद्ध थे। उनके विद्यालय में होने से कई प्रकार के प्रश्न खड़े होते हैं। क्या परम्पराओं के मध्य, उनकी सीमाओं के भीतर न्यायसंगत सामाजिक परिवर्तन बिल्कुल नामुमकिन है? क्या हमारे हेडमास्टर साहब अपने गाँधीवादी विचार-दृष्टि और व्यवहार में नए मूल्यों के संवाहक थे या आधुनिक जीवन की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए पुराने मूल्यों के मध्यस्थ? क्या गाँधीवादी विचार और व्यवहार की बनावट और बुनावट देशकाल और राजनीति-सापेक्ष नहीं है? क्या राष्ट्र एक ऊर्ध्वगामी अवधारणा मात्र है? कहीं यह तो नहीं कि दिल्ली में बना-ढला राष्ट्र हमारे बुनियादी विद्यालय की देहरी तक आते-आते थोड़ा कम अजनबी, थोड़ा ज़्यादा परिचित हो चला था– अपने गाँव, समाज, देश के मुहावरों, संघर्षों, शक्ति प्रदर्शनों से लबरेज़!

मणीश ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में एमए और गोवा विश्वविद्यालय से पीएचडी की है। इन दिनों मणीश इंडियन इंस्टिच्यूट ऑफ मैनेजमेंट, कोलकता में 'पब्लिक पालिसी और मैंनेजमेंट' के प्रोफेसर हैं। समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए उन्हें एम.एन. श्रीनिवास मेमोरियल पुरस्कार, राधा कमल मुखर्जी मेमोरियल और वी. के आर. वी. पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। ग्रामीण विकास की नीतिगत और कार्यालयी चर्चाओं में 'गाँव' की बनने वाली छवियों पर इन्होंने शोध-प्रबन्ध लिखा है।

सम्पर्क : इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ मैनेजमेंट, कोलकता। डायमण्ड हार्बर रोड, जोका, कोलकता- 700104, mt@iimcal.ac.in